हमारे समय का जरूरी परिचयः त्रिशूल और तर्पण


प्रफुल्ल कोलख्यान

शिवमूर्ति हमारे समय के प्रतिष्ठित और महत्त्वपूर्ण साहित्यकार हैं। उनका अनुभव गहरा और रचना संसार विपुल है। इधर उनके दो उपन्यास, 'त्रिशूल'और 'तर्पण', को पढ़ने के बाद जब शिवमूर्त्ति के रचना विकास पर नजर डालता हूँ तो लगता है एक रचनाकार के रूप में शिवमूर्ति ने अपने को आश्चर्यजनक ढंग से अतिक्रमित किया है और खुद को नये सिरे गढ़ा है। उनकी बहुचर्चित कहानी 'तिरिया चरित्तर' पर हंस में चली बहस,उनकी कहानियों के कई प्रसंगों को याद करें और इन उपन्यासों को देखें तो हिंदी के सामाजिक यथार्थ की रेखाओं से संवाद करती उनके विकास की रेखाएँ साहित्य और समाजके पारस्परिक संबंधों और व्यावहारिक जनतंत्र की जमीन हकीकत की नई और साफ समझ उकेरती दिखती हैं, वह भी बिना किसी ताम-झाम के। हिंदी समाज के लिए शिवमूर्ति को विस्तार से समझना जरूरी दायित्व है। लेकिन अभी तो 'त्रिशूल', अभी तो 'तर्पण'।

क्या है हिंदी साहित्य में यह 'त्रिशूल' और क्या है हिंदी समाज का त्रिशूल। आगे बढ़ने के पहले थोड़ा-सा समय मिथकीय त्रिशूल पर भी नजर डालना जरूरी लग रहा है और समकालीन राजनीति के त्रिशूलीकरण को भी याद कर लेना जरूरी लग रहा है। त्रिशूल रुद्र का हथियार है। रुद्र इसका इस्तेमाल शिव को सुनिश्चित करने के लिए करते हैं। यह बात तब और महत्त्वपूर्ण लगने लगती है जब हमारा ध्यान इस तरफ जाता है कि शिव आर्येतर परंपरा से आते हैं। यहाँ के शिव के आर्य या अनार्य परंपरा के होने के उल्लेख की बस इतनी ही प्रासंगिकता है कि रुद्र अपने समाज की मुख्य-धारा की परंपरा से नहीं, बल्कि मुख्य-धारा के समांतर किंतु भिन्न परंपरा से संबद्ध रहे हैं। खुद शिवमूर्ति तो हिंदी साहित्य की मुख्य-धारा के सशक्त लेखक हैं, इस सच के बावजूद वे सामाजिक रूप से मुख्य-धारा से नहीं आते हैं। यह समझना बहुत मुश्किल नहीं है कि इस पर बहस की भरपूर गुंजाइश है, लेकिन एक जरूरी बहस से परेहज क्यों! ‘क्वचिदन्यतोपि’[1], अर्थात, मुख्य-धारा के अतिरिक्त के प्रतीकों और संभावनाओं को मुख्य-धारा में समाहित कर आत्मसात कर लेना तथा उससे जुड़े सामाजिकों को उससे बाहर ही छोड़ देना भारतीय संस्कृति की मुख्य-धारा की खासियत रही है। भारतीय संस्कृति की मुख्य-धारा की इस खासियत को समझे बिना हिंदी साहित्य के कई जरूरी संदर्भों को समझा ही नहीं जा सकता है, 'त्रिशूल' और 'तर्पण' जैसे उपन्यास को बिल्कुल ही नहीं समझा जा सकता है। भारतीय संस्कृति की मुख्य-धारा की इस खासियत को समझने में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी सहायक और साक्षी हो सकते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार, ‘बौद्ध-धर्म के उच्छेद और ब्राह्मण-धर्म की पुन:स्थापना से भारत की धार्मिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों में जो अभूतपूर्व क्रांति’ उत्पन्न हुई! अब यह जानना दिलचस्प हो सकता है कि ‘बौद्ध-धर्म के उच्छेद’ के बाद बुद्ध को विष्णु का अवतार माना गया या ‘बौद्ध-धर्म के उच्छेद’ के लिए बुद्ध को विष्णु का अवतार माना गया? ‘बौद्ध-धर्म के उच्छेद’ के बाद बुद्ध को विष्णु का अवतार माने जाने की ‘उदारता’ का कोई कारण नहीं दिखता है। ‘बौद्ध-धर्म के उच्छेद’ के लिए बुद्ध को विष्णु का अवतार माने जाने का संकेत मिलता है, वह यह कि बुद्ध को विष्णु का अवतार मान लिया गया, लेकिन, ‘बौद्ध-धर्म के उच्छेद और ब्राह्मण-धर्म की पुन:स्थापना’ के बाद बौद्धों को वैष्णव नहीं माना गया। उच्छेद में निहित उत्पीड़न को समझा जाये तो संस्कृति की मुख्य-धारा की खासियत पर थोड़ी रौशनी पड़ सकती है; कैसे ‘बौद्ध-धर्म’ अपने उच्छेद के बावजूद अपने अस्तित्व को भारत में बचा सका। निश्चित रूप से इस बचने में इस्लाम के आगमन के

महत्त्व को भी समझना जरूरी होगा। यह सच है कि इस्लाम के साथ भी बौद्ध का द्वंद्वात्मक संबंध ही था, लेकिन ब्राह्मण-विरोधी के रूप में इस्लाम की उपस्थिति ने पहले से सक्रिय ब्राह्मण-विरोधी संप्रदायों में एक नये प्रकार की पारस्परिकता को विकसित किया, इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, 'मुसलमानों के आने के पहले इस देश में कई ब्राह्मण-विरोधी संप्रदाय थे। बौद्ध और जैन तो प्रसिद्ध ही हैं। कापालिकों, लाकुलपाशुपतों, वामाचारियों आदि का बड़ा जोर था। नाथों और निरंजनियों की अत्यधिक प्रबलता थी। बाद के साहित्य में इन मतों का बहुत थोड़ा उल्लेख मिलता है। दक्षिण से भक्ति की जो प्रचंड आँधी आई, उसमें ये सब मत बह गए। पर क्या एकदम मिट गए? लोकचित्त पर से क्या वे एकदम झड़ गए? हिंदी, बँगला, मराठी, उड़िया आदि साहित्यों के आरंभिक काल के अध्ययन से इनके बारे में बहुत-कुछ जाना जा सकता है।'[2] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, 'बौद्ध धर्म का इस देश से जो निर्वासन हुआ उसके प्रधान कारण शंकर, कुमारिल और उदयन आदि वेदांतिक और मीमांसक आचार्य माने जाते हैं। .....पर उन्होंने निचले स्तर के आदमियों में जो प्रभाव छोड़ा था, उसमें नाम-रूप का परिवर्त्तन हुआ,ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार शंकराचार्य के तत्त्ववाद की पृष्ठ-भूमि में बौद्ध तत्त्ववाद अपना रूप बदलकर रह गया। बड़े-बड़े बौद्ध मठों ने शैव मठों का रूप लिया और करोड़ों की संख्या में जनता आज भी उन मठों के महंतों की पूजा करती आ रही है।'[3] शैवों-कापालिकों-लाकुलपाशुपतों के बारे में मुख्य-धारा की क्या धारणा रही है, यहाँ बस इतना ही स्पष्ट करना था। साथ ही यह ध्यान दिलाना भी अप्रासंगिक नहीं होगा कि विद्यापति की भक्ति का प्रसंग राम से नहीं, शिव-पार्वती और राधा-कृष्ण से जुड़ता है, लेकिन मुख्य-धारा को शिव-पार्वती प्रसंग उतना नहीं सुहाया जितना कि राधा-कृष्ण प्रसंग। अकारण नहीं है कि विद्यापति का प्रसार 'मुख्य-धारा' की 'मुख्य-भूमि' की ओर न हुआ, बल्कि बंगाल, उड़ीसा, असम, नेपाल आदि की ओर हुआ। भूलना न होगा कि विद्यापति का प्रसार उन्हीं सरणियों में हुआ जिन सरणियों में उनके पहले बुद्ध और उनके बाद कबीर का प्रसार हुआ था। त्रिशूल ब्राह्मण-परंपरा, अर्थात परंपरा की मुख्य-धारा से बाहर सक्रिय शैवों-कापालिकों-लाकुलपाशुपतों का प्रतीक रहा है, जिसे हिंदुत्व की राजनीति ने आत्मसात किया है। ऐसे माहौल में शिवमूर्ति के उपन्यास 'त्रिशूल' को पढ़ा जाना जरूरी है।

तो फिर क्या है हिंदी समाज का यह आत्मसातीकृत त्रिशूल? हिंदी समाज का यह आत्मसातीकृत त्रिशूल है--धर्म, जाति, संप्रदाय की राजनीतिक इस्तेमाल के आंतरिक औपनिवेशिक कारखाने में बना शोषण और समाजिक पराधीनता की वह फाँस जिसे आर्थिकी की डंडा में लगाकर डंका बजाया जाता रहा है। और'तर्पण'? 'तर्पण' है, इस पूरी प्रक्रिया को कान-पूँछ दबाकर सहते रहने का प्रायश्चित।

इधर धर्म, जाति, संप्रदाय की राजनीतिक इस्तेमाल के संदर्भों से कई उपन्यास हिंदी में आया है, उदाहरण के लिए कुछ नाम लेना जरूरी लगे तो, कमलेश्वर के 'कितने पाकिस्तान', दूधनाथ सिंह के 'आखिरी कलाम',काशीनाथ सिंह के 'काशी का अस्सी' उनमें अनिवार्य रूप से शामिल होगा। लेकिन, सामाजिक गतिशीलता की जिन आहटों को शिवमूर्ति अपनी सृजनशीलता में विन्यस्त और उपन्यस्त करते हैं, उससे 'त्रिशूल' और'तर्पण' की औपन्यासिक बनावट और बुनावट एक भिन्न जाति का बन जाता है। 'त्रिशूल' को पढ़ते हुए यह सहज ही समझ में आता है कि यह तथा-कथित मुख्य-धारा के बाहर का उपन्यास क्यों है। 'त्रिशूल' को पढ़ते हुए यह भी सहज ही समझ में आता है कि यह सामाजिकताओं की गति-मति को प्रतिभासित करनेवाली रचना बन जाने से सीमित न होकर क्यों और कैसे सामुदायिकताओं की व्यथाओं की रति-प्रकृति को प्रतिध्वनित करनेवाली कृति के रूप में विकसित हुआ!

एक प्रसंग 'त्रिशूल' से -----

'पत्नी उसे टेप रिकॉर्डर दे रही हैं। फ्राक दे रही हैं। सायकिल दे रही हैं।

वह लेता नहीं। कहता है, "क्या होगा?"
पत्नी जोर देती हैं, "रख लो, रख लो।"
वह कहता है, "रहने दीजिए। जाने दीजिए।"
पत्नी ने उसका हिसाब किया है। गिनकर कुछ रुपए दिए हैं। वह बिना उन्हें देखे, पैंट की जेब में डाल लेता है।
मैं कुछ बोलने के लिए पूछता हूँ, "बस कितने बजे हैं?"
उत्तर पत्नी देती हैं, "रात दस बजे। सवेरे सीधे इसके दरवाजे पर उतारेगी।"
मैं महमूद से कहता हूँ, "स्कूटर निकालो। बस अड्डे तक छोड़ आऊँगा।"
फिर पत्नी ही बोतली हैं, "इसका दोस्त नाई का लड़का आया है, अपने एक साथी के साथ। वही दोनों छोड़ने जा रहे हैं।"
"कहाँ हैं?"
"महमूद की कोठरी में बैठे हैं।"
मैं रोमांचित हो जाता हूँ। क्या सचमुच निहायत गाढ़े दिनो में अपने ही काम आते हैं? अपना कौन है? पराया कौन? आज तक हम इसके 'अपने' थे। आज पराए हो रहे हैं। वे लड़के कल तक 'पराए' थे। आज जाते-जाते सगे हो गए हैं।
…..
लगता है महमूद के साथ हमारी युगों-युगों से संचित सहिष्णुता, उदारता और विश्वबंधुत्व की पूँजी आज इस घर को हमेशा-हमेशा के लिए अलविदा करके जा रही हैं।'

पत्नी ने भरोसे के साथ कहा जरूर था कि जिस बस में महमूद सवार होने जा रहा है वह बस है, ***"रात दस बजे। सवेरे सीधे इसके दरवाजे पर उतारेगी।"*** यह भरोसा बहुत ही कच्चा साबित हुआ और भहराकर गिर गया। महमूद के जाने के तीन दिन बाद मिले महमूद के अब्बा के खत से पता चला कि वे लोग जान बचाने के लिए लखनऊ भाग आए हैं और अभी कोई पक्का 'ठीहा' नहीं मिला है। सवेरे अपने घर के जिस 'दरवाजे' पर उतरा होगा महमूद उस घर का उजड़ा चेहरा देखकर क्या बीती होगी महमूद पर! शास्त्री जी तो कहें-- जानें श्रीराम! यह कैसी विडंबना है कि शास्त्री जी के घर से लीक हुई खबर के अनुसार लड़का तो ननिहाल में सुरक्षित था और इधर महमूद का 'ठीहा' उखड़ गया!

शिवमूर्ति के महमूद की सहजता प्रेमचंद के हामिद की याद दिलाती है। लेकिन हामिद और महमूद में एक भारी अंतर है। यह अंतर बहुत ही उदास कर देनेवाला अंतर है। अंतर यह कि आजादी की ओर बढ़ते हुए गुलाम भारत के हामिद में जो उत्साह और सूझ का साहस था वह गुलामी की ओर बढ़ते आजाद भारत के महमूद में नहीं है। हो भी कैसे सकता है हामिद का समय सहिष्णुता, उदारता और विश्वबंधुत्व के आगमन के स्वप्न का समय था और महमूद का समय सहिष्णुता, उदारता और विश्वबंधुत्व के विघटन के यथार्थ का दुस्समय है!

और अब एक प्रसंग 'तर्पण' से -----
'नहीं वकील साहब। सही है कि मैंने नहीं मारा। लेकिन यह भी सही है कि मन ही मन जाने कितनी बार मारा है। बोटी-बोटी काट डाला है। और आज जब 'जस' लेने का मौका आया है तो कहते हैं इनकार कर दूँ?" फिर पत्नी की ओर मुँह करके पूछता है-- "तुम क्या कहती हो मुन्ना की माई? इनकार कर दूँ?"
वकील बीस कोने का मुँह बनाता है --- "पागल है क्या?"
हाथ पकड़कर खींचता है-- "इधर आइए चाय की दुकान पर।"
पियारे को चाय पिलाते हुए वकील नया रास्ता सुझाता है--"ठीक है। मत करो इनकार। लेकिन तब यह भी कहो कि मुझे

मारने के लिए बन्दूक लेकर दौड़ा। मेरे ऊपर गोली चलाई। निशाना चूक जाने के चलते बच गया। और जब दुबारा गोली भरने लगा तो अपनी जान बचाने के लिए मारना पड़ा।"

"नहीं वकील साहब। मुझे जेल जाना है। जेल की रोटी खाकर पराश्चित करना है। इस पाप का पराश्चित कि कान पूँछ दबाकर इतने दिनों तक उनलोगों का जोर-जुल्म सहता रह गया।"

फिर मुन्ना की ओर उँगली उठाकर दृढ़ता से कहता है--- "खबरदार जो मेरी जमानत कराई।"

अब तक सारी बात चुपचाप सुनती मुन्ना की माँ कहती है--"अब इन्हें मत रोकिए वकील साहेब। इसी में इनकी 'मुक्ती' है।"

…..

जेल वाहन की जाली से मुँह सटाकर फागुन की ठंडी पुरवा को फेफड़े में भरता है पियारे और आँखें मुँद लेता है। उसे लगता है जैसे पुरखों का 'तर्पण' करने के लिए 'गया-जगन्नाथ जी' जा रहा है।'

एक भिन्न तरह के, लेकिन अ-भिन्न संवेदना के, प्रसंग की याद दिलाता है, पियारे का बयान। क्या कहा था भगत सिंह ने! ओफ्फ! गुलाम भारत में शहादत का दुर्निवार बन जाना तो समझ में आता है, लेकिन आजाद भारत में पियारे की आत्मा से निकली आत्म-ध्वंस की यह टीस! यह यह कैसा समाज बना डाला हमने कि जेल जाना पियारे के लिए अपनी मुक्ति और पुरखों के 'तर्पण' का प्रसंग बनकर उभर आया।

हिंदी समाज के जीवित नव-प्रसंग को समझने के लिए शिवमूर्ति का 'त्रिशूल' और 'तर्पण' एक अनिवार्य पाठ है। 'त्रिशूल' और 'तर्पण' एक अनिवार्य पाठ से अपरिचित रह जाना अपने समय के चरित्र से अपरिचित रह जाना है। आज के तूफानी समय में अपने समय के चरित्र से परिचित न होने का जोखिम उठाना क्या उचितहै? फैसला हिंदी समाज को करना होगा।

---

[1] तुलसीदासः रामचरित मानस- बालकांड: नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद् रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोपि।

स्वानंतःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा- भाषानिबंधमतिमञ्जुलमातनोति।।7।।

[2] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः मध्यकालीन साहित्यों की परस्पर सापेक्षिताः विचार-प्रवाहः हिंदी ग्रंथ रत्नाकर

[3] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीः हिंदी साहित्य की भूमिका– हिंदी साहित्यः भारतीय चिंता का स्वाभाविक विकासः राजकमल प्रकाशन